जैन कला में तीर्थङ्करों का वीतरागी स्वरूप

—डा. मारुतिनन्दन तिवारी,
—डा. चन्द्रदेव सिंह

[कला इतिहास विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी—२२१००५ (उ० प्र०)]

जैन कला और स्थापत्य पर डा० यू० पी० शाह प्रभृति विद्वानों ने कई महत्वपूर्ण ग्रन्थ एवं लेख प्रकाशित किये हैं, जिनमें जैन कला के विविध पक्षों की सुन्दर विवेचना और वर्णन मिलते हैं। किन्तु जैन कला में जैन तीर्थंकरों या जिनों के विषय में अध्ययन मुख्यतः लक्षणपरक रहे हैं। प्रस्तुत लेख में हम जैन तीर्थंकरों के वीतरागी स्वरूप तथा कला में उसकी अभिव्यक्ति की चर्चा करेंगे।

जैन देवकुल में वर्तमान अवसर्पिणी युग के २४ तीर्थंकरों को सर्वाधिक प्रतिष्ठा प्राप्त है, जिन्हें हेमचन्द्र (१२वीं शती ई०) ने 'देवाधिदेव' भी कहा है। तीर्थंकरों के मुख्य आराध्य देव होने के कारण सर्वप्रथम कला में तीर्थंकरों की ही मूर्तियाँ बनीं। कुछ विद्वान हड़प्पा से प्राप्त नग्न कबन्ध (लगभग २५०० ई० पू०) को तीर्थंकर मानते हैं, जिनमें टी० एन० रामचन्द्रन एवं रामप्रसाद चन्द्रा मुख्य हैं। सिन्धु सभ्यता की लिपि के अन्तिम रूप से अभी तक न पढ़े जा सकने की स्थिति में यद्यपि हड़प्पा की मूर्ति का तीर्थंकर मूर्ति होना संदेहास्पद हो सकता है किन्तु मूर्ति की नग्नता और उसके खड़े होने की कायोत्सर्ग-जैसी मुद्रा किसी न किसी रूप में ऐसे योगी मूर्तियों के निर्माण और पूजन की परम्परा को अवश्य प्रमाणित करती है जो कालान्तर में केवल तीर्थंकर मूर्तियों की ही अभिन्न विशेषताएँ रही हैं। पटना के समीप लोहानीपुर से प्राप्त मौर्यकालीन चमकदार आलेप से युक्त मूर्ति निःसन्देह तीसरी शताब्दी ई० पू० में तीर्थंकर मूर्तियों के निर्माण और पूजन की स्पष्ट साक्षी हैं[1]। शुंग काल में मथुरा और चौसा (भोजपुर, बिहार) जैसे स्थलों पर तीर्थंकरों की मूर्तियाँ बनीं। बौद्ध परम्परा के समान जैनपरम्परा में महावीर या किसी पूर्ववर्ती तीर्थंकर ने अपनी मूर्ति निर्माण का निषेध नहीं किया था। इससे बुद्ध के पूर्व ही तीर्थंकर मूर्तियों के निर्माण का मार्ग जैन धर्मानुयायियों के लिए प्रशस्त था। **वसुदेवहिण्डी** (छठी शती ई०) तथा अन्य कई प्रारम्भिक जैन ग्रन्थों सहित हेमचन्द्र कृत **त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र** (१२वीं शती ई०) में हमें महावीर के जीवन काल में ही जीवन्तस्वामी स्वरूप में उनकी प्रतिमा के निर्माण और पूजन के स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं। जीवन्तस्वामी मूर्तियों के प्राचीनतम उदाहरण भी गुजरात में अकोटा से प्राप्त हुए हैं।[2] इन गुप्तकालीन मूर्तियों के पीठिका लेख में स्पष्टतः 'जीवितस्वामी' नाम मिलता है।

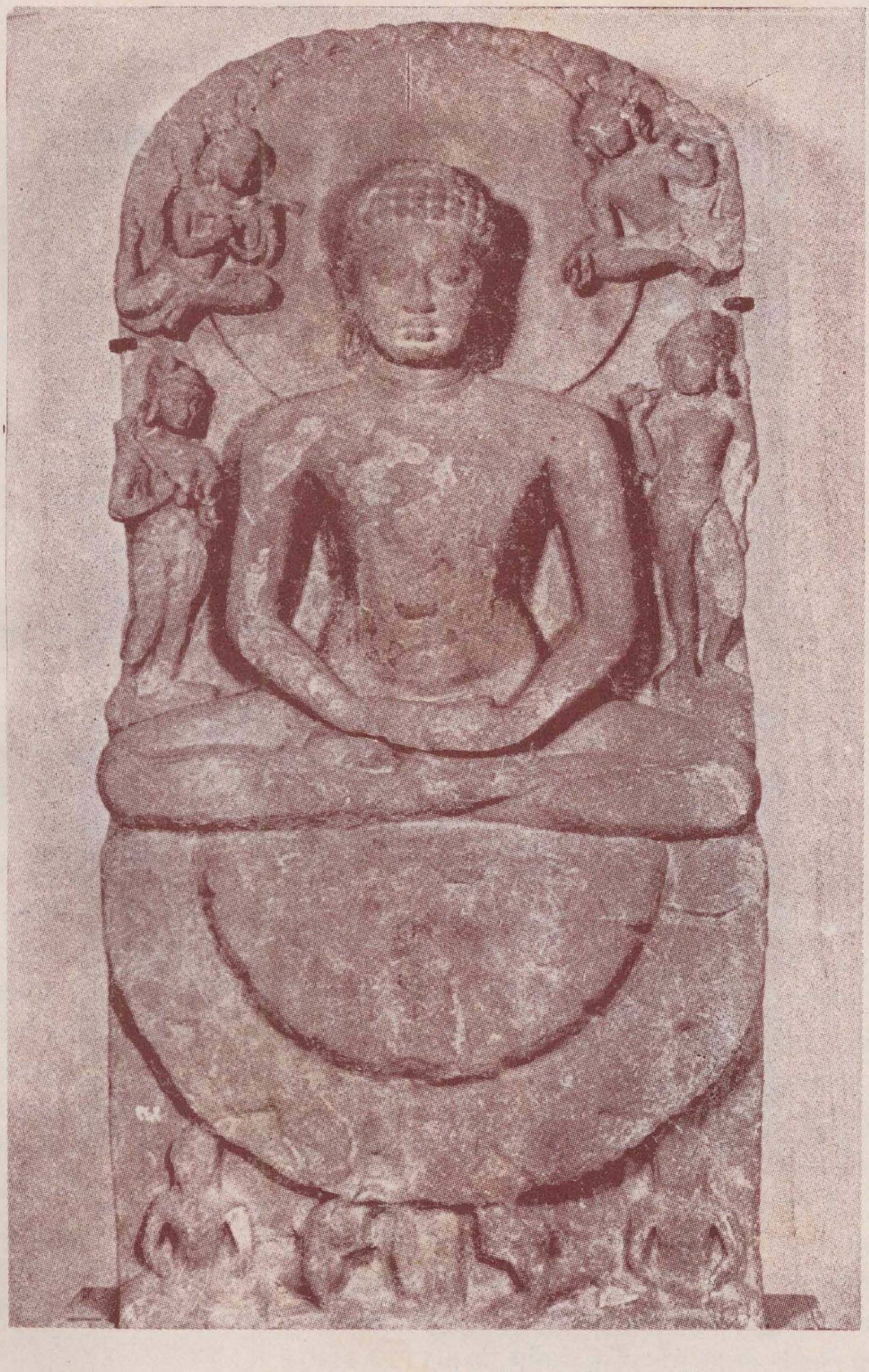

महावीर स्वामी की ध्यानस्थ मुद्रा : लगभग छठी शती ई. । संप्रति भारत कला भवन वाराणसी, B. H. U. (क्रमांक १६१) चित्र : भारत कला भवन के सौजन्य से प्राप्त

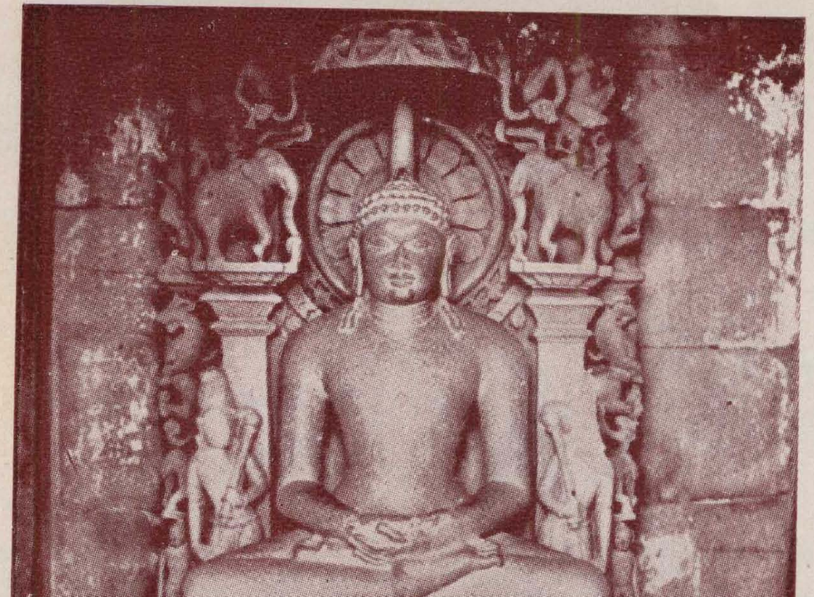

ऋषभनाथ भगवान (ध्यानस्थ मुद्रा) पश्चिमी देवालय पार्श्वनाथ
मन्दिर खजुराहो (म. प्र.) लगभग १०वीं ई. शती ।
(चित्र—लेखक के संग्रह से)

कुषाण काल में मथुरा में भागवत सम्प्रदाय के भक्ति आन्दोलन के प्रभाव के कारण पहली बार प्रचुर संख्या में तीर्थंकर मूर्तियों का निर्माण प्रारम्भ हुआ और तीर्थंकर मूर्तियों के कई लक्षण भी सर्वप्रथम स्थिर हुए। कुषाण काल में ऋषभनाथ, सम्भवनाथ, मुनिसुव्रत, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर (वर्धमान) की कई मूर्तियाँ बनीं। इन मूर्तियों में सर्वप्रथम वक्षस्थल में श्रीवत्स चिन्ह के अंकन की परम्परा प्रारम्भ हुई जिनके आधार पर सरलता से तीर्थंकर और बुद्ध मूर्तियों के बीच अन्तर किया जा सकता है। तीर्थंकर मूर्तियाँ केवल दो ही मुद्राओं—ध्यानस्थ या पद्मासन में बैठी और कायोत्सर्ग या खड्गासन में खड़ी रूप में बनीं (चित्र २-३)। ये दोनों ही मुद्रायें योगी की चिन्तन-ध्यान की विशिष्ट मुद्रायें हैं। आगे की शताब्दियों में भी तीर्थंकर मूर्तियों का निर्माण इन्हीं दो मुद्राओं में हुआ।

कुषाण काल में तीर्थंकर मूर्तियों में अष्टप्रातिहार्यों में से लगभग सात प्रातिहार्यों (सिंहासन, चामरधारी सेवक, प्रभामण्डल, अशोक वृक्ष, मालाधारी गन्धर्व आदि) का अंकन हुआ। तीर्थंकर मूर्तियों में सभी अष्ट-प्रातिहार्यों का अंकन गुप्तकाल में प्रारम्भ हुआ। गुप्तकाल में ही तीर्थंकर मूर्तियों के साथ शासन देवता या उपासक देवों के रूप में यक्ष-यक्षी को संश्लिष्ट किया गया और तीर्थंकरों के स्वतन्त्र लांछन भी दिखाये गये। मथुरा, अकोटा (ऋषभनाथ को कुबेर यक्ष और अम्बिका यक्षी के साथ) राजगिर, वाराणसी (चित्र १) विदिशा (दुर्जनपुर, म० प्र०)[3], बादामी एवं अयहोल (कर्नाटक)[4] से छठी-सातवीं शती ई० की अनेक तीर्थंकर मूर्तियाँ मिली हैं।

आठवीं से तेरहवीं शती ई० के मध्य की अनेक तीर्थंकर मूर्तियाँ श्वेताम्बर एवं दिगम्बर स्थलों—देवगढ़, खुजराहो (चित्र २), शहडोल, मथुरा, राजगिर, खण्डगिरि, कुंभारिया, ओसियां, आबू, तारंगा, घणेराव, जालोर, हुम्चा, अर्सिकेरी, हलेबिड, तिरुमरुत्तिकुणरम एवं एलोरा आदि से प्राप्त हुई हैं। जिनमें प्रतिमालक्षण की दृष्टि से तीर्थंकर मूर्तियों का पूर्ण विकसित स्वरूप मिलता है। यक्ष-यक्षी, अष्टप्रातिहार्यों एवं स्वतन्त्र लांछनों से युक्त मध्यकालीन तीर्थंकर मूर्तियों में नवग्रह, सरस्वती, लक्ष्मी तथा कुछ अन्य देवी-देवताओं का अंकन भी मिलता है।

जैन धर्म प्रारम्भ से ही अत्यन्त उदार और समन्वयवादी रहा है जो न केवल राम और कृष्ण जैसे लोक चरित्रों के जैन देवकुल में समाविष्ट किये जाने से स्पष्ट है वरन् इससे सम्बन्धित स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना से भी स्पष्ट है जिनमें रामचरित्र से सम्बन्धित **पउमचरिय** (विमलसूरि कृत, ४७३ ई०) एवं कृष्ण चरित्र से सम्बन्धित **हरिवंश पुराण** (जिनसेनकृत—७८३ ई०) मुख्य हैं। समन्वयवादी प्रवृत्ति के कारण ही जैन धर्माचार्यों ने ६३ शलाका पुरुषों की सूची में २४ तीर्थंकरों के अतिरिक्त बलराम, कृष्ण, राम, भरत चक्रवर्ती, लक्ष्मण, बलि, निशम्भु, मधुकैटभ, प्रह्लाद, रावण और जरासन्ध को भी चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव और प्रतिवासुदेव के रूप में सम्मिलित किया। तीर्थंकरों के यक्ष-यक्षी अधिकांशतः ब्राह्मण देवी-देवताओं से सम्बन्धित हैं जिनके माध्यम से जैनों ने ब्राह्मण देवों पर तीर्थंकरों की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया है। किन्तु यह श्रेष्ठता बौद्ध धर्म के ब्राह्मण देवों के प्रति अपमानजनक स्वरूप से सर्वथा भिन्न रही है। ज्ञातव्य है कि बौद्धों द्वारा ब्राह्मण देवी-देवताओं में से अनेकशः ब्रह्मा, शिव, विष्णु, गणेश और शक्ति को अपने पैरों के नीचे अपमानजनक स्थिति में दिखाया गया है। समय के साथ चलने और अपने धर्म को लोकप्रिय बनाये रखने की प्रवृत्ति के कारण समन्वयवादी धारणा की पराकाष्ठा जिनसेन कृत **हरिवंश पुराण** के सन्दर्भ से पूरी तरह स्पष्ट है जिसमें जिनमन्दिर में कामदेव और रति की मूर्तियों के निर्माण की संस्तुति की गई है।[5] **हरिवंशपुराण** में जिनमन्दिरों में सम्पूर्ण प्रजा के कौतुक के लिए कामदेव और रति की मूर्तियाँ बनवाने और मन्दिर कामदेव के नाम से प्रसिद्ध होने के उल्लेख हैं।

ऋषभनाथ के यक्ष-पक्षी गोमुख और चक्रेश्वरी स्पष्टतः शिव और विष्णु की शक्ति वैष्णवी के प्रभाव से युक्त हैं। श्रेयांसनाथ के यक्ष-यक्षी ईश्वर और गौरी हैं। इनके अतिरिक्त गरुड़, वरुण, कुमार, गौरी, काली, महाकाली, नामों वाले यक्ष-यक्षी के साथ ही विष्णु, शिव, ब्रह्मा, इन्द्र, कार्तिकेय जैसे ब्राह्मण देवों का भी स्पष्ट प्रभाव यक्ष-यक्षी के निरूपण में उनके नामों एवं लक्षणों के सन्दर्भ में देखा जा सकता है।

समन्वयवादी और समय के अनुरूप परिवर्तन को स्वीकार करने की उपर्युक्त प्रवृत्ति के साथ ही जैनधर्म में कुछ निजी विशेषताएँ भी रही हैं। एक ओर जैनधर्म में सभी प्रकार के परिवर्तनों को स्वीकार किया गया, किन्तु दूसरी ओर मुख्य आराध्यदेव तीर्थंकरों के मूल स्वरूप के साथ किसी भी प्रकार के शिथिलन को कभी भी स्वीकार नहीं किया गया। तीर्थंकर वीतरागी होते हैं जिनकी उपासना से भौतिक समृद्धि की प्राप्ति सम्भव नहीं थी। सामान्य जनों को जैन धर्म में बनाये रखने के लिए तथा भौतिक सुख-समृद्धि की प्राप्ति के लिए तीर्थंकरों के साथ शासन देवी-देवताओं के रूप में यक्ष-यक्षी को संश्लिष्ट किया गया जिनसे सभी प्रकार की भौतिक जगत की इच्छित वस्तुएं प्राप्त की जा सकती थीं। किन्तु तीर्थंकरों के वीतरागी और सांसारिक कर्मों के मुक्तिदायी स्वरूप में किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया गया। दूसरी ओर जब हम बौद्ध धर्म की ओर दृष्टि डालते हैं तो बुद्ध का भी प्रारम्भ में मौलिक स्वरूप तीर्थंकरों के समान ही वीतरागी रहा है, जिन्हें कालान्तर में विभिन्न भौतिक उपलब्धियों को देने वाले देवता के रूप में परिवर्तित किया गया। यह बात अभय और वरद मुद्राओं में बुद्ध को दिखाये जाने से पूरी तरह स्पष्ट है, जिसका अभिप्रेत बुद्ध से अभयदान और वरदान प्राप्त करना था। यही नहीं, बुद्ध ने समय-समय पर अन्य आचार्यों एवं देवताओं की भाँति विभिन्न प्रकार के चमत्कारों द्वारा भी अपनी अलौकिक शक्ति का प्रदर्शन किया था।

केवल जैन धर्म में ही सारे परिवर्तनों की स्वीकृति के बाद भी तीर्थंकरों के मूल वीतरागी स्वरूप को कभी भी नहीं छेड़ा गया। यही कारण है कि तीर्थंकरों को न तो कभी अभयदान और न ही वरदान की मुद्रा में दिखाया गया। साथ ही कमठ (शम्बर) द्वारा पार्श्वनाथ की तपस्या के समय उपस्थित किये गये विभिन्न उपसर्गों (विघ्नों) और महावीर की तपस्या में शूलपाणि यक्ष और संगमदेव द्वारा उपस्थित उपसर्गों के समय भी इन तीर्थंकरों द्वारा किसी प्रकार का कोई चमत्कार नहीं किया गया। पार्श्वनाथ और महावीर दोनों ही शान्त भाव से यातनाओं को सहते हुये ध्यानरत रहे। पार्श्वनाथ के उपसर्गों के समय स्वयं नागराज धरणेन्द्र को उपस्थित होकर उनकी रक्षा करनी पड़ी थी। इसका कदापि यह अर्थ नहीं है कि ये तीर्थंकर अलौकिक शक्तियों या चमत्कारों से रहित थे, बल्कि अपने वीतरागी स्वभाव के कारण ही ये उनसे विरत रहकर शान्त बने रहे। २२वें तीर्थंकर नेमिनाथ के संसार त्याग कर दीक्षा लेने का प्रसंग भी जैन धर्म की इसी मूलभूत प्रवृत्ति को उजागर करता है। अपने विवाह के अवसर पर दिये जाने वाले भोज के लिए रखे गये पशुओं को देखकर उनके मन में विरक्ति का भाव उत्पन्न हुआ और उन्होंने बिना विवाह किये ही वापस लौटकर दीक्षा ग्रहण की। यह बात अहिंसा के प्रति जैन धर्म की अटूट निष्ठा को व्यक्त करती है। ऋषभनाथ के पुत्रों—भरत चक्रवर्ती और बाहुबली के युद्ध के समय सैन्य युद्ध के स्थान पर अनावश्यक नरसंहार को रोकने के लिए उनके द्वन्द्व युद्ध का निर्णय भी अहिंसा की मानसिकता का चरम बिन्दु दरशाता है। बाहुबली तीर्थंकर न होते हुए भी विजय के क्षणों में संसार त्याग कर दीक्षा ग्रहण करते हैं, और अत्यधिक कठिन साधना और तपश्चर्या द्वारा कैवल्य प्राप्त करते हैं। तपस्या के समय उनके शरीर से लता-वल्लरि के लिपटने के साथ ही वृश्चिक एवं सर्प

जैसे जन्तु भी उनके शरीर पर निर्विघ्न बने रहे। इस कठिन साधना के कारण ही जैन धर्म में उन्हें आगे चलकर तीर्थंकर जैसा महत्व दिया गया जो देवगढ़ एवं खजुराहो की मूर्तियों से पूरी तरह स्पष्ट है। भारत की विशालतम धार्मिक प्रतिमा (१०वीं शती ई०) के रूप में श्रवणबेलगोल (कर्नाटक) में गोम्मटेश्वर बाहुबली की ५७ फुट ऊँची प्रतिमा का निर्माण हुआ जो बाहुबली के प्रबल वीतरागी स्वरूप का प्रतिफल था।

इस प्रकार स्पष्ट है कि जैन धर्म में सारे परिवर्तनों के बावजूद तीर्थंकरों के वीतरागी स्वरूप को पूरी तरह बरकरार रखा गया। यही कारण है कि तीर्थंकर मूर्तियाँ केवल योग और ध्यान की मुद्राओं—ध्यान एवं कायोत्सर्ग में ही बनीं। यह विशेषता जैन धर्म की मौलिक विशेषता रही है।

सन्दर्भ :

१. जायसवाल के० पी० "जैन इमेज आफ मौर्य पीरियड" **जर्नल आफ बिहार, उड़ीसा रिसर्च-सोसायटी**, खण्ड २३, भाग १, १९३७ पृ १३०-३२.

२. शाह यू० पी०, **अकोटा ब्रोन्जेज** बम्बई, १९५९, पृ० २८-२९.

३. विदिशा से चौथी शती ई० की चन्द्रप्रभु और पुष्पदन्त के नामों वाली महाराजाधिराज रामगुप्त के काल की मूर्तियाँ मिली हैं।

४. बदामी एवं अयहोल से पार्श्वनाथ, महावीर तथा बाहुबली गोम्मटेश्वर की छठी-सातवीं शती ई० की मूर्तियां मिली हैं।

५. **हरिवंश पुराण**—२९-१-५.

● ●

मोती पाने के लिए तो समुद्र की गहराई में उतरना ही पड़ता है। लहरों के साथ सतही तौर पर कलाबाजियाँ खाने या गोते लगाने से मोती नहीं मिल जाते। अन्दर डुबकी लगानी पड़ती है तब कहीं जाकर मोती हाथ लगते हैं। हमें आत्मा के अक्षय खजाने को, आत्मा की स्वच्छ छवि को पाने के लिए तो गहराई में उतरना होगा। जिस क्षण हम वासना और चाह से ऊपर उठ जायेंगे उसी दिन से सत्य का साक्षात्कार प्रारम्भ हो जायेगा।

—आचार्यश्री जिनकान्तिसागर जी

● ●